E content
M. A. Geography
Semester III
C C 1

सामाजिक न्याय

एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय (social justice) की बुनियाद सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके मुताबिक किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए कि वे 'उत्तम जीवन' की अपनी संकल्पना को धरती पर उतार पाएँ। विकसित हों या विकासशील, दोनों ही तरह के देशों में राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में सामाजिक न्याय की इस अवधारणा और उससे जुड़ी अभिव्यक्तियों का प्रमुखता से प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसका अर्थ हमेशा सुस्पष्ट ही होता है। सिद्धांतकारों ने इस प्रत्यय का अपने-अपने तरीके से इस्तेमाल किया है। व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में भी, भारत जैसे देश में सामाजिक न्याय का नारा वंचित समूहों की राजनीतिक गोलबंदी का एक प्रमुख आधार रहा है। उदारतावादी मानकीय राजनीतिक सिद्धांत में उदारतावादी-समतावाद से आगे बढ़ते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धांतीकरण में कई आयाम जुड़ते गये हैं। मसलन, अल्पसंख्यक अधिकार, बहुसंस्कृतिवाद, मूल निवासियों के अधिकार आदि। इसी तरह, नारीवाद के दायरे में स्त्रियों के अधिकारों को ले कर भी विभिन्न स्तरों पर सिद्धांतीकरण हुआ है और स्त्री-सशक्तीकरण के मुद्दों को उनके सामाजिक न्याय से जोड़ कर देखा जाने लगा है।

रॉल्स का न्याय सिद्धान्त

राबर्ट एमडूर : 1950 व 1960 के दशक में यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि 'राजनीतिक सिद्धान्त' विषय ही खत्म हो गया । इसैया बर्लिन ने 1961 में लिखा कि अमेरिका व इंग्लैण्ड में यह मान्यता होने लगी कि 'राजनीतिक दर्शन' की मृत्यु हो गई है । इसका मूल कारण यह था कि बीसवीं शताब्दी में 'राजनीतिक-दर्शन' में कोई गम्भीर रचना नहीं हुई । लेकिन 1971 में जॉन रॉल्स की पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' ने इस धारणा को तोड़ा ।

रॉल्स का सिद्धान्त : रॉल्स का उद्देश्य ऐसे सिद्धान्त विकसित करना था जो हमें समाज के मूल ढांचे को समझने में मदद करे । किस तरह से संविधान और समाज की प्रमुख संस्थाएं अधिकारों और कर्त्तव्यों का वितरण करती हैं? और किस तरह से सामाजिक सहयोग से होने वाले लाभ का वितरण किया जाता है? संविधान और ये संस्थाएं अनेक पदों का सृजन करती हैं और इन पदों पर आसीन लोगों की जीवन से भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं होती हैं । सामाजिक-आर्थिक असमानताएं जीवन की अपेक्षाओं को नियन्त्रित करती हैं । अत: सामाजिक न्याय का सिद्धान्त इन असमानताओं पर ही सबसे पहले लागू होना चाहिये । रॉल्स चाहता है कि हम सोचें कि सामाजिक-संरचना के मूल सिद्धान्त के बारे में प्रारम्भिक सहमति क्या रही होगी. संविदा-सिद्धान्त की मान्यता है कि समाज न्याय के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को तय कर सकता है, अथवा, यह कि लगभग समानता की स्थिति में विवेकपूर्ण और स्वहितकारी लोग अपने लिये कुछ सिद्धान्तों की रचना कर सकेंगे । रॉल्स चाहता है कि हम उस मीटिंग की कल्पना करें जहां सामाजिक सहयोग के आधार पर लोगों के उन सिद्धान्तों की रचना की होगी जिनके आधार पर अधिकारों और कर्त्तव्यों का वितरण किया जाना चाहिये और सामाजिक लाभ का विभाजन किया जाना चाहिये । रॉल्स के अनुसार वास्तव में ऐसी कोई मीटिंग न तो हुई, न ही उसकी कोई आवश्यकता ही थी; यह एक परिकल्पना मात्र है जो केवल इस बात का एहसास दिलाना चाहती है कि किसी भी न्यायपूर्ण समाज में आधारभूत सिद्धान्तों की रचना कैसे की जानी चाहिये ।

रॉल्स के तर्कों को दो भागों में बांटा जा सकता है । प्रथम, वह उन परिस्थितियों का निर्माण करता है जो एक न्यायपूर्ण सहमति के लिये आवश्यक है; द्वितीय, वह यह बताने की कोशिश करता है कि इन परिस्थितियों में विवेकपूर्ण लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग करके कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर अवश्य पहुंच जायेंगे । मूल समझौता करने वालों का 'उपलब्ध ज्ञान' एक प्रमुख परिस्थिति है । वे जानते हैं कि वे एक अभावग्रस्त समाज के लिये सिद्धान्तों की रचना कर रहे हैं, जहां सबकी आवश्यकताएं व रुचियां तो लगभग एक सी हैं, पर जीवन के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग हैं । इससे उनके उद्देश्य व लक्ष्य भिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिससे वे प्राकृतिक एवम् सामाजिक संसाधनों पर परस्पर विरोधी दावे करने लगते हैं. वे यह भी जानते हैं कि उनकी पारस्परिक विपरीत रुचियों के साथ-साथ उनके दार्शनिक व धार्मिक विश्वास तथा राजनीतिक व सामाजिक सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं । इसके अलावा वे राजनीतिक घटनाओं, आर्थिक सिद्धान्तों, सामाजिक-संरचना के आधारों और मानव-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को भी जानते हैं । लेकिन स्वयं अपने बारे में वे कुछ नहीं जानते और रॉल्स चाहता है कि वे इसी 'अज्ञानता के पर्दे' में रहकर अपने निर्णय लें । उन्हें उनकी नैसर्गिक क्षमताओं व योग्यताओं, सामाजिक स्थिति, पसन्द तथा प्राथमिकताओं अथवा जीवन की भावी योजना के बारे में कुछ भी नहीं बताया जायेगा । 'अज्ञानता के पर्दे' में रहकर निर्णय लेना रॉल्स को अन्य संविदावादियों से अलग करता है । इससे उनकी नैतिकता को प्रभावित किये बिना उन्हें वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष निर्णय लेने के लिये सम्यक् परिस्थिति प्रदान की जा सकेगी । इससे कोई अपने हित को ध्यान में रखकर निर्णय न ले सकेगा । क्योंकि किसी को पता ही नहीं कि उन निर्णयों से उसका हित कैसे प्रभावित होगा ।

इसलिये रॉल्स चाहता है कि मूल-संविदावादी निम्न दो सिद्धान्तों पर सहमत हों-

(क) मूलभूत समान-स्वतन्त्रता के व्यापकतम संसार में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे समान अधिकार प्राप्त हों जो दूसरों के ऐसे ही समान अधिकारों के अनुरूप हों;

(ख) सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार विन्यासित किया जाय कि (i) उससे सबसे कमज़ोर वर्ग को सर्वाधिक लाभ मिले तथा (ii) उन्हें अवसरों की उचित समानता के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी को उपलब्ध पदों से सम्बद्ध किया जा सके ।

सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत 'सामान्य हित' के मानक से सम्बन्धित सब कुछ आ जाता है जो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर निर्धनता और निरक्षरता के अन्मूलन तक सब कुछ पहलुओं को द्वंगित करता है ।

यह न केवल विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त का पालन करने और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है, जैसा हम पश्चिमी देशों में देखते हैं, बल्कि इसका सम्बन्ध उन कुत्सित सामाजिक कुरीतियों जैसे द्ररिद्रता, बीमारी, बेकारी और भुखमरी आदि के दूर करने से भी है जिसकी तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर गहरी चोट पड़ी है ।

इसके साथ, इसका सम्बन्ध उन निहित स्वार्थो को समाप्त करने से है जो लोकहित को सिद्ध करने के मार्ग में और यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष में है । इस दृष्टि से दुनिया के पिछड़े और विकासशील देशों में सामाजिक न्याय का आदर्श राज्य के लिए यह आवश्यक बना देता है कि वह पिछड़े और समाज के कमजोर वर्गो की हालत सुधारने के लिए ईमानदारी से प्रयास करें ।

सामाजिक न्याय अवधारणा का अभिप्राय यह है कि नागरिक, नागरिक के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए और प्रत्येक व्यक्ति को अन्य विकास के पूर्ण अवसर सुलभ हों । सामाजिक न्याय की धारणा में एक

निष्कर्ष यह निहित है कि व्यक्ति का किसी भी रुप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए माना जाए मात्र साधन के लिए नहीं ।

सामाजिक न्याय की व्यवस्था में सुधारु और सुसंस्कृत जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का भाव निहित है और इस संदर्भ में समाज की राजनीतिक सत्ता से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने विद्यार्थी तथा कार्यकारी कार्यक्रमों द्वारा क्षमतायुक्त समाज की स्थापना करें ।

सामाजिक न्याय की मांग है कि समाज के सुविधाहीन वर्गो को अपनी सामाजिक- आर्थिक असमर्थताओं पर काबू पाने और अपने जीवन स्तर में सुधार करने के योग्य बनाया जाए, समाज के गरीबी के स्तर से नीचे के सर्वाधिक सुविधावंचित वर्गो विशेषरूप से निर्धनों के बच्चों, महिलाओं ओर सशक्त व्यक्तियों की सहायता की जाए और इस प्रकार शोषणविहीन समाज की स्थापना की जाए ।

समाज के दूर्लभ वर्गो को ऊंचा उठाए बिना, हरिजनों पर अत्याचार को रोके बिना, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गो का विकास किए बिना सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकती । सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि मनुष्य मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए, प्रत्येक व्यक्तियों को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के समान अवसर उपलब्ध हों, किसी भी व्यक्ति का किसी भी रुप मे शोषण न हो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, आर्थिक सत्ता चन्द हाथों में केन्द्रित न हो, समाज का कमजोर वर्ग अपने को असहाय महसूस न करे ।

सामाजिक न्याय, प्रशासन तथा मानवाधिकार'

वर्तमान समय में वैश्वीकरण एवं निजीकरण के चलते तमाम परिभाषाएं एवं मान्यताएं बदल गई हैं। समाज में नई-नई चुनौतियों के कारण नई-नई समस्याएं आ रही हैं और उनका समाधान भी सामान्य तरीके से होना असम्भव है।

सामान्य तौर पर सामाजिक न्याय का अर्थ है पूरे समाज में न्याय की परिकल्पना। यह व्यक्ति एवं समूह सभी के साथ न्यायोचित व्यवहार एवं समाज के फायदे में सभी की न्यायोचित भागीदारी के विचार पर आधारित है। यह सही है कि चन्द शब्दों में सामाजिक न्याय को परिभाषित नहीं किया जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि सामाजिक न्याय का कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसी तरह से है जैसे कि नदियों को उसके किनारों से नहीं बांधा जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि नदियों का कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिक एवं आर्थिक समानता ही विधि के नियम की भावना है। यह गतिशील व परिवर्तनीय आदर्श एवं बहुआयामी विचार का प्रतीक है। जस्टिस के0 सुब्बाराव ने कहा है कि सामाजिक न्याय सभी के प्रति न्यायसंगत व निष्पक्ष होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति।

सामाजिक न्याय समाज के कमजोर वगरें के प्रति बेहतर बर्ताव की मांग कर सकता है परन्तु यह सिर्फ समाज में व्याप्त असंतुलन को दूर करने के लिए है न कि किसी को प्रताड़ित करने या किसी के प्रति अन्याय के लिए। सामाजिक न्याय प्रमुख रूप से वह आचार संहिता है जिसे समाज बहुआयामी विकास के लिए लागू करता है और पालन करता है। क्रमिक विकास में मनुष्य अपनी बुद्धि से सर्वजेता होने का प्रयास करता है परन्तु अन्तर्ज्ञान उसे समाज में अन्य लोगों के प्रति जिम्मेदारी के बारे में बताता है जिसे वह नैतिकता के नाम से जानता है। नैतिकता और मनुष्य के सर्वजेता की इच्छा का अन्तर्द्वन्द ही मनुष्य के सामाजिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। न्याय इन दोनों अन्तर्विरोधी बलों में सामांजस्य बिठाने का नाम है, यह मनुष्य की स्वार्थपरता एवं उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का सामंजस्य है। सामाजिक न्याय मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्य, उसकी स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का संतुलन है तथा इस संतुलन को लागू करने के लिए समाज ने राज्य की स्थापना की और राज्य को यह अधिकार दिए कि वह इनको लागू करे।

भारत वर्ष के सन्दर्भ में सामाजिक न्याय हमारे संविधान की धुरी है। संवैधानिक रूप से राज्य समाज के सभी वगरें का जीवन स्तर एक सामान्य स्तर तक लाने के लिए बाध्य है। सामाजिक न्याय की अवधारणा हमारे लिए इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि हमारी एकता अनेकता के आधार पर टिकी है और यहाँ पर ज्यादातर लोग अशिक्षित हैं। सामाज का एक बड़ा वर्ग आज भी रोटी, कपड़ा और मकान के लिए चिन्तित है। तमाम लोग ऐसे हैं जो न्यूनतम मानवीय सुविधाओं के अभाव में जीवनयापन कर रहे हैं। जस्टिस कृष्णा अय्यर (सामाजिक न्यायः सूर्यास्त या भोर) ने सही कहा था कि भारत वर्ष में क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि ऐसी मिसाइलें हैं जो हमारे सामाजिक न्याय रूपी जहाज को मारकर गिराती रहती हैं।

हमारे संविधान की आमुख, भाग-3 और भाग-4 भारत में सामाजिक न्याय की व्याख्या करती हैं। धर्म, जाति, रंग, लिंग और जन्म स्थान के आधार पर हमारे देश में भेदभाव नहीं किया जा सकता। सार्वजनिक स्थानों पर जाने का सभी को अधिकार है। कानून के अनुसार सभी को न्याय देना, इस कानून के पीछे राज्य का अधिकार होना और न्यायालयों का यह अधिकार होना कि वह इसे उद्घोषित कर सके तथा कार्यपालिका का यह कर्तव्य होना कि इन निर्णयों को सही ढंग से अनुपालन सुनिश्चित कर सके, यह किसी भी न्यायिक समाज के प्रमुख चिन्ह हैं। सामाजिक न्याय को सभी लोगों को, सभी वगरें को प्रदान करने के लिए सामाजिक विधिकार की परिकल्पना की गई है। भारत वर्ष में सामाजिक विधिकार निम्न प्रकार के हैं :-

1. वे कानून जो सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे अस्पृश्यता अधिनियम आदि।

2. वे कानून जो आर्थिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे जमींदारी उन्मूलन अधिनियम।

3. वे कानून जो समाज की सेवा के लिए हैं जैसे जन स्वास्थ्य एवं शिक्षा, आवास व शहरों की योजना सम्बन्धी नियम।

4. सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कानून जैसे कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम।

5. समाज कल्याण अधिनियम जैसे घरेलू हिंसा अधिनियम, मद्यनिषेद्य अधिनियम इत्यादि।

यह सभी कानून संविधान द्वारा स्थापित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बनाए गए हैं। आमुख (च्तमंउइसम) में जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों की विस्तार से विवेचना की गई है वे पूर्ण रूप से संविधान के भाग-3 जो कि मूल अधिकार और भाग-4 जो कि नीति निर्देशक सिद्धान्त (डायरेक्टिव प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी) में है, पूरी तरह से व्याख्यायित की गयी है। आमुख, मूल अधिकार एवं नीति निर्देशक तत्व यह तीनों मिलाकर समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए न्याय सुनिश्चित करते हैं।

सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकार एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हें समाज में सही ढंग से लागू करने की जिम्मेदारी एक प्रजातंत्रात्मक राज्य में शासन की होती है चाहे वह विधायिका हो या कार्यपालिका। जब तक दोनों एक समन्वयात्मक रूप से कार्य नहीं करेंगे तब तक सामाजिक विकास होना असम्भव है। यदि कार्यपालिका संविधान के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए अपने कर्तव्यों को पूरा करे तभी हम अपने पूर्वजों की इस अवधारणा को पूरा करने में समर्थ होंगे जिसमें उन्होंने कहा है कि सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुःख भाग भवेत ।

सामाजिक न्याय की कसौटी और गांधी दर्शन

आज के जमाने में भी विश्व के विभिन्न प्रांतों में मानवाधिकारों की रक्षा के आंदोलन में हगांधीजी का जीवन और संघर्ष एक महान प्रेरणा है । अमेरिका में . ष्णांग समुदाय के अधिकारों के लिए लड़ाई करने वाले मार्टिन लूथर किंग, दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला, अमेरिका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति बराक ओबामा या बर्मा में इक्कीस साल तक बंदी रहने के बाद हाल ही में मुक्त हुईं आंग सान सू की- सभी ने गांधीजी को अपना आदर्श माना । फ़िर भी वर्तमान समय में गांधी की के विचार कितने

प्रासंगिक हैं, ये प्रश्न समय-समय पर उठता रहा है। इस संदर्भ में आवश्यकता ये है कि हम गांधीजी के विचारों को एक बार पुनः समझने का प्रयास करें। खासतौर पर, सामाजिक न्याय के विषय में उनकी धारणाओं का पुनरावलोकन जरूरी है ताकि समाज की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में मदद मिले।

गांधीदर्शन अन्याय और शोषण की समप्ति शांतिपूर्ण व अंहिसात्मक उपाय द्वारा की करना चाहता है। भारत की आजादी इस बात का श्रेष्ठ उदाहरण है कि समाज या व्यवस्था को अहिंसात्मक आंदोलन से भी परिवर्तित किया जा सकता है। अहिंसा मानवीय स्वतंत्रता समानता तथा न्याय के प्रति गांधीजी की प्रतिबद्धता सावधानीपूर्वक व्यक्गित परीक्षण के बाद जीवन के सत्य से पैदा हुई थी। गांधीजी द्वारा निर्देशित अहिंसा का वही मार्ग आज के हिंसादीर्ण समाज लिए और भी अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

गांधीजी मानवप्रेमी होने के साथ-साथ गहरे रूप में आध्यात्मिक और धार्मिक थे। वे परम्पराओं में विश्वास करते थे, लेकिन उनके विचार अभिनव और क्रांतिकारी थे। उनका मानना था कि धार्मिक भावना से संचालित व्यक्ति कभी किसी प्रकार का अन्याय सहन नहीं करता। जहाँ भी मानवता पर कोई अन्याय हो, नैतिकता और धर्म का तकाजा यही है कि तुरंत उसको मिटाने का प्रयास किया जाए। सामाजिक भेदभाव और संकीर्णता मिटाने की निरंतर कोशिश, अस्पृश्यता और जाति-पांति के बैर को जड़ से मिटाने के लिए सामाजिक आंदोलन और भारतीय समाज को एक साथ जोड़ने की चेष्टा, गांधी दर्शन की धुरी है। अहिंसा एवं सत्याग्रह उनकी नैतिकता की अवधारणा के दो मुख्य पहलू रहे हैं और असहयोग, सामाजिक न्याय की लड़ाई का प्रमुख हथियार। तोलस्तॉय एक चिट्ठी में गांधीजी को लिखते हैं,'.... The psaive resistance is a question of great importance not only for India but for the whole humanity'. हालांकि आजादी की लड़ाई में कई बार असहयोग आंदोलन में हिंसा उतर आने के कारण गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन रद्द किया गया, पर यह आंदोलन भारतवासियों को एकजुट करने में सफ़ल रहा था।

गांधीजी का समग्र जीवन गरीबों और पीड़ितों को सामाजिक न्याय दिलाने के संघर्ष में बीता। दक्षिण अफ्रीका में जो लड़ाई अश्वेत नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रारंभ हुई, वह भारतवर्ष के स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि थी। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधीजी को दो तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक था विदेशी शासकों के शिकंजे से देश को आजाद करना, और दूसरी तरफ़ भारतीय समाज में पनपने वाली अंदरूनी बुराइयों को हटाना। भारत को अगर अंग्रेज़ी हुकूमत का सामना करना था तो यह जरूरी था कि मौजूदा भेदभावपूर्ण समाज को बदलकर आपसी संबंधों को सुधारा जाए। सदियों से चली आ रही अन्याय की प्रथाओं को बदलना या मिटाना कोई आसान काम नहीं था। त्याग और बलिदान के लिए लोगों को अनुप्राणित करने की गांधीजी की अद्भुत क्षमता और पिछड़े वर्गों के प्रति उनके प्रेम ने इस कठिन काम को आगे बढ़ाया। आजादी की उनकी लड़ाई अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध थी। साथ ही साथ, एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए भी।

इस उद्देश्य से समाज के उत्थान के लिए गांधीजी ने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किए सांप्रदायिक एकता अस्पश्यता निवारण मद्यनिषेध खादी प्रचार ग्रोमोद्योग सफाई की शिक्षा बुनियादी तालीम हिंदी प्रचार अन्य भारतीय भाषाओं का विकास स्त्रियों की उन्नति स्वास्थ्य शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा इसी प्रकार देशहित के लिए आर्थिक समानता कृषक संगठन श्रमिक संगठन विद्यार्थी संगठन और स्वतंत्रता तथा स्वराज के लिए निरंतर संघर्ष। स्वाधीनता के उपरांत स्वतंत्र भारत में, सभी को सम्मान के साथ जीने के अधिकार मिलें- यह गांधीजी का स्वप्न था। इस तरह से देखा जए तो गांधीजी का दर्शन और सामाजिक न्याय, इन दोनों में कोई अंतर नजर नहीं आता।

सामाजिक न्याय अम्बेडकर और लोहिया

सामाजिक न्याय की कल्पना एक नई कल्पना है, जिसका सही स्वरूप अभी सर्वोच्च न्यायालय के जजों के लिए भी स्पष्ट नहीं हुआ है। जनसंचार माध्यमों से जुड़े लोगों के लिए भी इसे ठीक-ठीक समझ पाना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त जो बात सबसे अधिक चिंताजनक है, वह यह है कि जनसंचार माध्यमों का संचालन करने वाले अधिकांश लोग सवर्ण जातियों से आते हैं जिनके लिए अपने संस्कारों से ऊपर उठना बहुत कठिन होता है। हर युग परिवर्तन के साथ यह ट्रेजेडी घटती है कि नए युग की संस्थाओं का संचालन पुराने युग के मूल्यों को वहन करने वाले बुद्धिजीवियों के हाथ में रहता है। इंग्लैंड आदि देशों के आधुनिक लोकतंत्रों का संचालन भी अभी हाल तक सामंती मानसिकता वाली नौकरशाही और बुद्धिजीवी वर्ग के हाथों में रहा। इसका कारण होता है कि जिस रफ्तार से राजनैतिक सत्ता या धन की सत्ता विस्थापित और वितरित होती है, उसी रफ्तार से विद्या या ज्ञान की सत्ता विकेंद्रित नहीं होती।

सामाजिक न्याय अधिकारों का विकेंद्रीकरण कर कमजोर जातियों का शक्तिकरण तो करता है, किंतु यह कुछ जातियों के वर्चस्व के स्थान पर कुछ अन्य जातियों के वर्चस्व को स्थापित करने का रास्ता नहीं है। यह समाज में समरसता लाने के लिए और जाति व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिए समाज के सभी समूहों का शक्तिकरण करता है। यह लक्ष्य विभिन्न जातियों के बीच घृणा और द्वेष का वातावरण बना कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से आज यही हो रहा है और इसका कारण है कि हमने सामाजिक न्याय की कल्पना को ठीक से नहीं समझा है। बंधुता की हत्या कर समता स्थापित नहीं हो सकती, उसी तरह, जैसे समता की हत्या कर स्वतंत्रता स्थापित नहीं होती।

डॉ. आंबेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में कहा था - 'स्वतंत्रता, समता और बंधुता को एक-दूसरे से अलग कर दें तो लोकतंत्र निष्फल हो जाएगा। न स्वतंत्रता को समता से अलग किया जा सकता है और न समता को स्वतंत्रता से। इसी तरह स्वतंत्रता और समता को भी बंधुता से विलग नहीं किया जा सकता।'

नव-आंबेडकरवादी इस भावना के ठीक विपरीत काम कर रहे हैं। वे समाज के अपने से भिन्न तबकों को शत्रु के रूप में देख रहे हैं। यह मनुवाद का ही विपर्यय रूप है। इस रास्ते से न जाति व्यवस्था का उन्मूलन हो सकता है और न दलितों की स्थिति में कोई आमूल परिवर्तन हो सकता है। यह विनाश का ही रास्ता है।

डॉ. आंबेडकर और उनके समकालीन अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं में जिसे ब्राह्मणी, ब्राह्मणवादी या 'ब्राह्मनिकल' व्यवस्था कहा जाता था, उसे कुछ समय से मनुवादी व्यवस्था का नाम दिया गया है। वर्णाश्रम के सिद्धांत पर आधारित इस व्यवस्था का स्वरूप चूँकि मनुस्मृति में तय किया गया था, अत: इसे मनुवादी कहा गया। व्यवस्था से अधिक यह विशेषण अब मानसिकता के लिए इस्तेमाल किया जाता है, क्योंकि मनुस्मृति की व्यवस्था तो काफी हद तक बदल गई है, किंतु मानसिकता वही है। इसे जातिवादी मानसिकता भी कहा जाता है।

यह मानसिकता गुप्त और प्रकट, दो रूपों में दिखाई देती है। प्रकट रूप पर तो संविधान ने अंकुश लगाए हैं, किंतु गुप्त या छद्म रूप में यह निरंतर काम कर रही है। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता सवर्ण जातियों में ही हो, असवर्ण जातियाँ भी इन मानसिकता का शिकार हैं।

डॉ. आंबेडकर और डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता के छद्म रूपों की विस्तार से पड़ताल की थी।

बंबई एसेंबली में दलितों के प्रतिनिधित्व पर हुई बहस के दौरान एक बार डॉ. आंबेडकर ने टिप्पणी की कि ब्राह्मण जज जब ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के बीच वाद का फ़ैसला करने लगता है तो वह सिर्फ़ जज के रूप में फ़ैसला नहीं करता, उसकी जातिवादी मानसिकता भी काम करती है। इस पर एसेंबली में बहुत हंगामा हुआ। दूसरे दिन आंबेडकर ने स्पष्टीकरण दिया कि 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया था क्योंकि प्रश्न पूछने वाला ब्राह्मण था। प्रश्न पूछने वाला कोई और होता तो मैं उसी की जाति का उल्लेख करता। यह एक मानसिकता है जो सबमें काम करती है।

डॉ. लोहिया ने १० दिसंबर १९५७ को लखनऊ जेल से उत्तर प्रदेश के जेल मंत्री के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें जवाहरलाल नेहरू को 'वशिष्ठी परंपरा का कट्टर ब्राह्मण' कह कर संबोधित किया था। इस पत्र में डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता को वशिष्ठवाद कहा था और उसकी विशेषताएँ बताई थीं— अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए क्रोध से अभिभूत होकर किसी को देश-निकाला (जैसे सीता को) और किसी का सिर काटने (जैसे शम्बूक का) की प्रवृत्ति। उनका कहना था कि कट्टरता की परंपरा वशिष्ठ की परंपरा है और उदारता की परंपरा वाल्मीकि की परंपरा।

मनुवाद का आम अर्थ इस समय यह है कि सवर्ण जातियों का राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक वर्चस्व हर हालत में बना रहना चाहिए, चाहे इसके लिए जो भी छल-छद्म करना पड़े। यह काम स्त्री और शूद्र के बहुसंख्यक समाज में हीनता की भावना भर कर ही किया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि इस बंहुसंख्यक समाज के रहनसहन, शिक्षा, व्यवसाय, संस्कृति के स्तर को यथासंभव निम्न से निम्न रखा जाए। यदि यह बहुसंख्यक समाज अपने राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की मांग करता है, तो उस माँग को हर संभव प्रयास से दबाया जाए।

संविधान में इस बहुसंख्यक वर्ग को सामाजिक न्याय के प्रावधानों के अंतर्गत जो अधिकार दिए गए (जैसे विशेष अवसर, आरक्षण की व्यवस्था), उन्हें कुंठित करने के लिए जो भी प्रयास हुए या हो रहे हैं, वे मनुवादी सोच का परिणाम हैं। कभी इन प्रावधानों को यह कह कर चुनौती दी गई थी कि ये मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। न्यायपालिका के इस फ़ैसले को बेअसर करने के लिए संविधान में पहला संशोधन १९५१ में करना पड़ा। संविधान के निर्देश के अनुसार नियुक्त कालेलकर आयोग ने जब स्त्रियों सहित सभी पिछड़े वर्गों को ७० प्रति आरक्षण देने की सिफारिश की, तो जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने कालेलकर पर रिपोर्ट बदलने के लिए दबाव डाला। परिणामस्वरूप कालेलकर ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते समय अग्रेषण पत्र में लिखा कि रिपोर्ट तैयार होने के बाद मैंने महसूस किया कि यह रिपोर्ट बहुत खतरनाक है। नेहरू सरकार ने योग्यता और आर्थिक कसौटी का तर्क दे कर, जिसे आज तक दुहराया जा रहा है, रिपोर्ट को कूड़े के डिब्बे में डाल दिया। इंदिरा सरकार ने भी इसे दबाए रखा और जनता सरकार के समय बनाए गए मंडल आयोग की रिपोर्ट को भी इंदिरा-राजीव सरकारों ने दबा दिया। जब मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने की, तो सारे देश में बसों को जलाने और आत्मदाहों का सिलसिला चला। कुछ लोगों ने दलित पिछड़ों के अधिकारों की इस माँग को भक्ति काल के आजमाए हुए फार्मूले के अनुसार धर्म से कुंद करने की नीति अपनाई और राम जन्मभूमि का आंदोलन छेड़ दिया। उच्चतम न्यायालय का फ़ैसला आ जाने के बाद भी दलित-पिछड़ों के अधिकारों के इस आंदोलन को विफल करने के प्रयास जारी हैं। आरक्षण समर्थक भी मूर्खतावश ऐसे प्रयास कर रहे हैं। वे धर्म के आधार पर भी आरक्षण की वकालत कर रहे हैं, जबकि यह आर्थिक आधार आरक्षण की तरह ही इस आंदोलन की भावना और संविधान के विरुद्ध है।

जाति व्यवस्था की बुराई का तीव्र अहसास हमें डॉ० आंबेडकर ने कराया, इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। लेकिन उन्होंने इस बुराई से निजात पाने का रास्ता नहीं सुझाया। उन्होंने धर्म परिवर्तन का रास्ता आजमाया, किंतु वे जानते थे कि धर्म परिवर्तन के बाद भी इससे पीछा नहीं छूटेगा। उन्होंने गुस्से और युद्ध के तेवर अपनाए और उनके अनुयायियों ने उसे घृणा का रूप दे दिया। घृणा घृणा को उकसा रही है और युद्ध का कहीं अंत नहीं दिखता। दूसरा रास्ता गांधी ने सुझाया—संस्कारों को बदलने का और मन की शुद्धि करने का। यह बंधुता के साथ समता को लाने का रास्ता है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सामाजिक न्याय के नारे ने विभिन्न समाजों में विभिन्न तबकों को अपने लिए गरिमामय ज़िंदगी की माँग करने और उसके लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया है। सैद्धांतिक विमर्श में भी यूटोपियाई समाजवाद से लेकर वर्तमान समय तक सामाजिक न्याय में बहुत सारे आयाम जुड़ते गये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि विकसित समाजों की तुलना में विकासशील समाजों में सामाजिक न्याय का संघर्ष बहुत जटिलताओं से घिरा रहा है। अधिकांश मौकों पर इन समाजों में लोगों को सामाजिक न्याय के संघर्ष में बहुत ज़्यादा संरचात्मक हिंसा और कई मौकों पर राज्य की हिंसा का भी सामना करना पड़ा है। लेकिन सामाजिक न्याय के लिए चलने वाले संघर्षों के कारण इन समाजों में बुनियादी

बदलाव हुए हैं। कुल मिला कर समय के साथ सामाजिक न्याय के सिद्धांतीकरण में कई नये आयाम जुड़े हैं और एक संकल्पना या नारे के रूप में इसने लम्बे समय तक ख़ामोश या नेपथ्य में रहने वाले समूहों को भी अपने के लिए जागृत किया है।

सामाजिक न्याय

एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय (social justice) की बुनियाद सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके मुताबिक किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए कि वे 'उत्तम जीवन' की अपनी संकल्पना को धरती पर उतार पाएँ। विकसित हों या विकासशील, दोनों ही तरह के देशों में राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में सामाजिक न्याय की इस अवधारणा और उससे जुड़ी अभिव्यक्तियों का प्रमुखता से प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसका अर्थ हमेशा सुस्पष्ट ही होता है। सिद्धांतकारों ने इस प्रत्यय का अपने-अपने तरीके से इस्तेमाल किया है। व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में भी, भारत जैसे देश में सामाजिक न्याय का नारा वंचित समूहों की राजनीतिक गोलबंदी का एक प्रमुख आधार रहा है। उदारतावादी मानकीय राजनीतिक सिद्धांत में उदारतावादी-समतावाद से आगे बढ़ते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धांतीकरण में कई आयाम जुड़ते गये हैं। मसलन, अल्पसंख्यक अधिकार, बहुसंस्कृतिवाद, मूल निवासियों के अधिकार आदि। इसी तरह, नारीवाद के दायरे में स्त्रियों के अधिकारों को ले कर भी विभिन्न स्तरों पर सिद्धांतीकरण हुआ है और स्त्री-सशक्तीकरण के मुद्दों को उनके सामाजिक न्याय से जोड़ कर देखा जाने लगा है।

रॉल्स का न्याय सिद्धान्त

राबर्ट एमडूर : 1950 व 1960 के दशक में यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि 'राजनीतिक सिद्धान्त' विषय ही खत्म हो गया । इसैया बर्लिन ने 1961 में लिखा कि अमेरिका व इंग्लैण्ड में यह मान्यता होने लगी कि 'राजनीतिक दर्शन' की मृत्यु हो गई है । इसका मूल कारण यह था कि बीसवीं शताब्दी में 'राजनीतिक-दर्शन' में कोई गम्भीर रचना नहीं हुई । लेकिन 1971 में जॉन रॉल्स की पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' ने इस धारणा को तोड़ा ।

रॉल्स का सिद्धान्त : रॉल्स का उद्देश्य ऐसे सिद्धान्त विकसित करना था जो हमें समाज के मूल ढांचे को समझने में मदद करे । किस तरह से संविधान और समाज की प्रमुख संस्थाएं अधिकारों और कर्त्तव्यों का वितरण करती हैं? और किस तरह से सामाजिक सहयोग से होने वाले लाभ का वितरण किया जाता है? संविधान और ये संस्थाएं अनेक पदों का सृजन करती हैं और इन पदों पर आसीन लोगों की जीवन से भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं होती हैं । सामाजिक-आर्थिक असमानताएं जीवन की अपेक्षाओं को नियन्त्रित करती हैं । अत: सामाजिक न्याय का सिद्धान्त इन असमानताओं पर ही सबसे पहले लागू होना चाहिये । रॉल्स चाहता है कि हम सोचें कि सामाजिक-संरचना के मूल सिद्धान्त के बारे में प्रारम्भिक सहमति क्या रही होगी. संविदा-सिद्धान्त की मान्यता है कि समाज न्याय के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को तय कर सकता है, अथवा, यह कि लगभग समानता की स्थिति में विवेकपूर्ण और स्वहितकारी लोग अपने लिये कुछ सिद्धान्तों की रचना कर सकेंगे । रॉल्स चाहता है कि हम उस मीटिंग की कल्पना करें जहां सामाजिक सहयोग के आधार पर लोगों के उन सिद्धान्तों की रचना की होगी जिनके आधार पर अधिकारों और कर्त्तव्यों का वितरण किया जाना चाहिये और सामाजिक लाभ का विभाजन किया जाना चाहिये । रॉल्स के अनुसार वास्तव में ऐसी कोई मीटिंग न तो हुई, न ही उसकी कोई आवश्यकता ही थी; यह एक परिकल्पना मात्र है जो केवल इस बात का एहसास दिलाना चाहती है कि किसी भी न्यायपूर्ण समाज में आधारभूत सिद्धान्तों की रचना कैसे की जानी चाहिये ।

रॉल्स के तर्कों को दो भागों में बांटा जा सकता है । प्रथम, वह उन परिस्थितियों का निर्माण करता है जो एक न्यायपूर्ण सहमति के लिये आवश्यक है; द्वितीय, वह यह बताने की कोशिश करता है कि इन परिस्थितियों में विवेकपूर्ण लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग करके कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर अवश्य पहुंच जायेंगे । मूल समझौता करने वालों का 'उपलब्ध ज्ञान' एक प्रमुख परिस्थिति है । वे जानते हैं कि वे एक अभावग्रस्त समाज के लिये सिद्धान्तों की रचना कर रहे हैं, जहां सबकी आवश्यकताएं व रुचियां तो लगभग एक सी हैं, पर जीवन के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग हैं । इससे उनके उद्देश्य व लक्ष्य भिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिससे वे प्राकृतिक एवम् सामाजिक संसाधनों पर परस्पर विरोधी दावे करने लगते हैं. वे यह भी जानते हैं कि उनकी पारस्परिक विपरीत रुचियों के साथ-साथ उनके दार्शनिक व धार्मिक विश्वास तथा राजनीतिक व सामाजिक सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं । इसके अलावा वे राजनीतिक घटनाओं, आर्थिक सिद्धान्तों, सामाजिक-संरचना के आधारों और मानव-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को भी जानते हैं । लेकिन स्वयं अपने बारे में वे कुछ नहीं जानते और रॉल्स चाहता है कि वे इसी 'अज्ञानता के पर्दे' में रहकर अपने निर्णय लें । उन्हें उनकी नैसर्गिक क्षमताओं व योग्यताओं, सामाजिक स्थिति, पसन्द तथा प्राथमिकताओं अथवा जीवन की भावी योजना के बारे में कुछ भी नहीं बताया जायेगा । 'अज्ञानता के पर्दे' में रहकर निर्णय लेना रॉल्स को अन्य संविदावादियों से अलग करता है । इससे उनकी नैतिकता को प्रभावित किये बिना उन्हें वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष निर्णय लेने के लिये सम्यक् परिस्थिति प्रदान की जा सकेगी । इससे कोई अपने हित को ध्यान में रखकर निर्णय न ले सकेगा । क्योंकि किसी को पता ही नहीं कि उन निर्णयों से उसका हित कैसे प्रभावित होगा ।

इसलिये रॉल्स चाहता है कि मूल-संविदावादी निम्न दो सिद्धान्तों पर सहमत हों-

(क) मूलभूत समान-स्वतन्त्रता के व्यापकतम संसार में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे समान अधिकार प्राप्त हों जो दूसरों के ऐसे ही समान अधिकारों के अनुरूप हों;

(ख) सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार विन्यासित किया जाय कि (i) उससे सबसे कमज़ोर वर्ग को सर्वाधिक लाभ मिले तथा (ii) उन्हें अवसरों की उचित समानता के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी को उपलब्ध पदों से सम्बद्ध किया जा सके ।

सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत 'सामान्य हित' के मानक से सम्बन्धित सब कुछ आ जाता है जो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर निर्धनता और निरक्षरता के अन्मूलन तक सब कुछ पहलुओं को द्वंगित करता है ।

यह न केवल विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त का पालन करने और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है, जैसा हम पश्चिमी देशों में देखते हैं, बल्कि इसका सम्बन्ध उन कुत्सित सामाजिक कुरीतियों जैसे द्ररिद्रता, बीमारी, बेकारी और भुखमरी आदि के दूर करने से भी है जिसकी तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर गहरी चोट पड़ी है ।

इसके साथ, इसका सम्बन्ध उन निहित स्वार्थो को समाप्त करने से है जो लोकहित को सिद्ध करने के मार्ग में और यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष में है । इस दृष्टि से दुनिया के पिछड़े और विकासशील देशों में सामाजिक न्याय का आदर्श राज्य के लिए यह आवश्यक बना देता है कि वह पिछड़े और समाज के कमजोर वर्गो की हालत सुधारने के लिए ईमानदारी से प्रयास करें ।

सामाजिक न्याय अवधारणा का अभिप्राय यह है कि नागरिक, नागरिक के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए और प्रत्येक व्यक्ति को अन्य विकास के पूर्ण अवसर सुलभ हों । सामाजिक न्याय की धारणा में एक

निष्कर्ष यह निहित है कि व्यक्ति का किसी भी रुप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए माना जाए मात्र साधन के लिए नहीं ।

सामाजिक न्याय की व्यवस्था में सुधारु और सुसंस्कृत जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का भाव निहित है और इस संदर्भ में समाज की राजनीतिक सत्ता से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने विद्यार्थी तथा कार्यकारी कार्यक्रमों द्वारा क्षमतायुक्त समाज की स्थापना करें ।

सामाजिक न्याय की मांग है कि समाज के सुविधाहीन वर्गो को अपनी सामाजिक- आर्थिक असमर्थताओं पर काबू पाने और अपने जीवन स्तर में सुधार करने के योग्य बनाया जाए, समाज के गरीबी के स्तर से नीचे के सर्वाधिक सुविधावंचित वर्गो विशेषरूप से निर्धनों के बच्चों, महिलाओं ओर सशक्त व्यक्तियों की सहायता की जाए और इस प्रकार शोषणविहीन समाज की स्थापना की जाए ।

समाज के दूर्लभ वर्गो को ऊंचा उठाए बिना, हरिजनों पर अत्याचार को रोके बिना, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गो का विकास किए बिना सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकती । सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि मनुष्य मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए, प्रत्येक व्यक्तियों को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के समान अवसर उपलब्ध हों, किसी भी व्यक्ति का किसी भी रुप मे शोषण न हो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, आर्थिक सत्ता चन्द हाथों में केन्द्रित न हो, समाज का कमजोर वर्ग अपने को असहाय महसूस न करे ।

सामाजिक न्याय, प्रशासन तथा मानवाधिकार'

वर्तमान समय में वैश्वीकरण एवं निजीकरण के चलते तमाम परिभाषाएं एवं मान्यताएं बदल गई हैं। समाज में नई-नई चुनौतियों के कारण नई-नई समस्याएं आ रही हैं और उनका समाधान भी सामान्य तरीके से होना असम्भव है।

सामान्य तौर पर सामाजिक न्याय का अर्थ है पूरे समाज में न्याय की परिकल्पना। यह व्यक्ति एवं समूह सभी के साथ न्यायोचित व्यवहार एवं समाज के फायदे में सभी की न्यायोचित भागीदारी के विचार पर आधारित है। यह सही है कि चन्द शब्दों में सामाजिक न्याय को परिभाषित नहीं किया जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि सामाजिक न्याय का कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसी तरह से है जैसे कि नदियों को उसके किनारों से नहीं बांधा जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि नदियों का कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिक एवं आर्थिक समानता ही विधि के नियम की भावना है। यह गतिशील व परिवर्तनीय आदर्श एवं बहुआयामी विचार का प्रतीक है। जस्टिस के0 सुब्बाराव ने कहा है कि सामाजिक न्याय सभी के प्रति न्यायसंगत व निष्पक्ष होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति।

सामाजिक न्याय समाज के कमजोर वगरें के प्रति बेहतर बर्ताव की मांग कर सकता है परन्तु यह सिर्फ समाज में व्याप्त असंतुलन को दूर करने के लिए है न कि किसी को प्रताड़ित करने या किसी के प्रति अन्याय के लिए। सामाजिक न्याय प्रमुख रूप से वह आचार संहिता है जिसे समाज बहुआयामी विकास के लिए लागू करता है और पालन करता है। क्रमिक विकास में मनुष्य अपनी बुद्धि से सर्वजेता होने का प्रयास करता है परन्तु अन्तर्ज्ञान उसे समाज में अन्य लोगों के प्रति जिम्मेदारी के बारे में बताता है जिसे वह नैतिकता के नाम से जानता है। नैतिकता और मनुष्य के सर्वजेता की इच्छा का अन्तर्द्वन्द ही मनुष्य के सामाजिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। न्याय इन दोनों अन्तर्विरोधी बलों में सामांजस्य बिठाने का नाम है, यह मनुष्य की स्वार्थपरता एवं उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का सामंजस्य है। सामाजिक न्याय मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्य, उसकी स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का संतुलन है तथा इस संतुलन को लागू करने के लिए समाज ने राज्य की स्थापना की और राज्य को यह अधिकार दिए कि वह इनको लागू करे।

भारत वर्ष के सन्दर्भ में सामाजिक न्याय हमारे संविधान की धुरी है। संवैधानिक रूप से राज्य समाज के सभी वगरें का जीवन स्तर एक सामान्य स्तर तक लाने के लिए बाध्य है। सामाजिक न्याय की अवधारणा हमारे लिए इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि हमारी एकता अनेकता के आधार पर टिकी है और यहाँ पर ज्यादातर लोग अशिक्षित हैं। सामाज का एक बड़ा वर्ग आज भी रोटी, कपड़ा और मकान के लिए चिन्तित है। तमाम लोग ऐसे हैं जो न्यूनतम मानवीय सुविधाओं के अभाव में जीवनयापन कर रहे हैं। जस्टिस कृष्णा अय्यर (सामाजिक न्यायः सूर्यास्त या भोर) ने सही कहा था कि भारत वर्ष में क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि ऐसी मिसाइलें हैं जो हमारे सामाजिक न्याय रूपी जहाज को मारकर गिराती रहती हैं।

हमारे संविधान की आमुख, भाग-3 और भाग-4 भारत में सामाजिक न्याय की व्याख्या करती हैं। धर्म, जाति, रंग, लिंग और जन्म स्थान के आधार पर हमारे देश में भेदभाव नहीं किया जा सकता। सार्वजनिक स्थानों पर जाने का सभी को अधिकार है। कानून के अनुसार सभी को न्याय देना, इस कानून के पीछे राज्य का अधिकार होना और न्यायालयों का यह अधिकार होना कि वह इसे उद्घोषित कर सके तथा कार्यपालिका का यह कर्तव्य होना कि इन निर्णयों को सही ढंग से अनुपालन सुनिश्चित कर सके, यह किसी भी न्यायिक समाज के प्रमुख चिन्ह हैं। सामाजिक न्याय को सभी लोगों को, सभी वगरें को प्रदान करने के लिए सामाजिक विधिकार की परिकल्पना की गई है। भारत वर्ष में सामाजिक विधिकार निम्न प्रकार के हैं :-

1. वे कानून जो सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे अस्पृश्यता अधिनियम आदि।

2. वे कानून जो आर्थिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे जमींदारी उन्मूलन अधिनियम।

3. वे कानून जो समाज की सेवा के लिए हैं जैसे जन स्वास्थ्य एवं शिक्षा, आवास व शहरों की योजना सम्बन्धी नियम।

4. सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कानून जैसे कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम।

5. समाज कल्याण अधिनियम जैसे घरेलू हिंसा अधिनियम, मद्यनिषेद्य अधिनियम इत्यादि।

यह सभी कानून संविधान द्वारा स्थापित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बनाए गए हैं। आमुख (च्तमंउइसम) में जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों की विस्तार से विवेचना की गई है वे पूर्ण रूप से संविधान के भाग-3 जो कि मूल अधिकार और भाग-4 जो कि नीति निर्देशक सिद्धान्त (डायरेक्टिव प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी) में है, पूरी तरह से व्याख्यायित की गयी है। आमुख, मूल अधिकार एवं नीति निर्देशक तत्व यह तीनों मिलाकर समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए न्याय सुनिश्चित करते हैं।

सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकार एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हें समाज में सही ढंग से लागू करने की जिम्मेदारी एक प्रजातंत्रात्मक राज्य में शासन की होती है चाहे वह विधायिका हो या कार्यपालिका। जब तक दोनों एक समन्वयात्मक रूप से कार्य नहीं करेंगे तब तक सामाजिक विकास होना असम्भव है। यदि कार्यपालिका संविधान के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए अपने कर्तव्यों को पूरा करे तभी हम अपने पूर्वजों की इस अवधारणा को पूरा करने में समर्थ होंगे जिसमें उन्होंने कहा है कि सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुःख भाग भवेत ।

सामाजिक न्याय की कसौटी और गांधी दर्शन

आज के जमाने में भी विश्व के विभिन्न प्रांतों में मानवाधिकारों की रक्षा के आंदोलन में हगांधीजी का जीवन और संघर्ष एक महान प्रेरणा है । अमेरिका में . ष्णांग समुदाय के अधिकारों के लिए लड़ाई करने वाले मार्टिन लूथर किंग, दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला, अमेरिका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति बराक ओबामा या बर्मा में इक्कीस साल तक बंदी रहने के बाद हाल ही में मुक्त हुईं आंग सान सू की- सभी ने गांधीजी को अपना आदर्श माना । फ़िर भी वर्तमान समय में गांधी की के विचार कितने

प्रासंगिक हैं, ये प्रश्न समय-समय पर उठता रहा है। इस संदर्भ में आवश्यकता ये है कि हम गांधीजी के विचारों को एक बार पुनः समझने का प्रयास करें। खासतौर पर, सामाजिक न्याय के विषय में उनकी धारणाओं का पुनरावलोकन जरूरी है ताकि समाज की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में मदद मिले।

गांधीदर्शन अन्याय और शोषण की समप्ति शांतिपूर्ण व अंहिसात्मक उपाय द्वारा की करना चाहता है। भारत की आजादी इस बात का श्रेष्ठ उदाहरण है कि समाज या व्यवस्था को अहिंसात्मक आंदोलन से भी परिवर्तित किया जा सकता है। अहिंसा मानवीय स्वतंत्रता समानता तथा न्याय के प्रति गांधीजी की प्रतिबद्धता सावधानीपूर्वक व्यक्गित परीक्षण के बाद जीवन के सत्य से पैदा हुई थी। गांधीजी द्वारा निर्देशित अहिंसा का वही मार्ग आज के हिंसादीर्ण समाज लिए और भी अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

गांधीजी मानवप्रेमी होने के साथ-साथ गहरे रूप में आध्यात्मिक और धार्मिक थे। वे परम्पराओं में विश्वास करते थे, लेकिन उनके विचार अभिनव और क्रांतिकारी थे। उनका मानना था कि धार्मिक भावना से संचालित व्यक्ति कभी किसी प्रकार का अन्याय सहन नहीं करता। जहाँ भी मानवता पर कोई अन्याय हो, नैतिकता और धर्म का तकाजा यही है कि तुरंत उसको मिटाने का प्रयास किया जाए। सामाजिक भेदभाव और संकीर्णता मिटाने की निरंतर कोशिश, अस्पृश्यता और जाति-पांति के बैर को जड़ से मिटाने के लिए सामाजिक आंदोलन और भारतीय समाज को एक साथ जोड़ने की चेष्टा, गांधी दर्शन की धुरी है। अहिंसा एवं सत्याग्रह उनकी नैतिकता की अवधारणा के दो मुख्य पहलू रहे हैं और असहयोग, सामाजिक न्याय की लड़ाई का प्रमुख हथियार। तोलस्तॉय एक चिट्ठी में गांधीजी को लिखते हैं,'.... The psaive resistance is a question of great importance not only for India but for the whole humanity'. हालांकि आजादी की लड़ाई में कई बार असहयोग आंदोलन में हिंसा उतर आने के कारण गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन रद्द किया गया, पर यह आंदोलन भारतवासियों को एकजुट करने में सफ़ल रहा था।

गांधीजी का समग्र जीवन गरीबों और पीड़ितों को सामाजिक न्याय दिलाने के संघर्ष में बीता। दक्षिण अफ्रीका में जो लड़ाई अश्वेत नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रारंभ हुई, वह भारतवर्ष के स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि थी। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधीजी को दो तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक था विदेशी शासकों के शिकंजे से देश को आजाद करना, और दूसरी तरफ़ भारतीय समाज में पनपने वाली अंदरूनी बुराइयों को हटाना। भारत को अगर अंग्रेज़ी हुकूमत का सामना करना था तो यह जरूरी था कि मौजूदा भेदभावपूर्ण समाज को बदलकर आपसी संबंधों को सुधारा जाए। सदियों से चली आ रही अन्याय की प्रथाओं को बदलना या मिटाना कोई आसान काम नहीं था। त्याग और बलिदान के लिए लोगों को अनुप्राणित करने की गांधीजी की अद्भुत क्षमता और पिछड़े वर्गों के प्रति उनके प्रेम ने इस कठिन काम को आगे बढ़ाया। आजादी की उनकी लड़ाई अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध थी। साथ ही साथ, एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए भी।

इस उद्देश्य से समाज के उत्थान के लिए गांधीजी ने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किए सांप्रदायिक एकता अस्पश्यता निवारण मद्यनिषेध खादी प्रचार ग्रोमोद्योग सफाई की शिक्षा बुनियादी तालीम हिंदी प्रचार अन्य भारतीय भाषाओं का विकास स्त्रियों की उन्नति स्वास्थ्य शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा इसी प्रकार देशहित के लिए आर्थिक समानता कृषक संगठन श्रमिक संगठन विद्यार्थी संगठन और स्वतंत्रता तथा स्वराज के लिए निरंतर संघर्ष। स्वाधीनता के उपरांत स्वतंत्र भारत में, सभी को सम्मान के साथ जीने के अधिकार मिलें- यह गांधीजी का स्वप्न था। इस तरह से देखा जए तो गांधीजी का दर्शन और सामाजिक न्याय, इन दोनों में कोई अंतर नजर नहीं आता।

सामाजिक न्याय अम्बेडकर और लोहिया

सामाजिक न्याय की कल्पना एक नई कल्पना है, जिसका सही स्वरूप अभी सर्वोच्च न्यायालय के जजों के लिए भी स्पष्ट नहीं हुआ है। जनसंचार माध्यमों से जुड़े लोगों के लिए भी इसे ठीक-ठीक समझ पाना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त जो बात सबसे अधिक चिंताजनक है, वह यह है कि जनसंचार माध्यमों का संचालन करने वाले अधिकांश लोग सवर्ण जातियों से आते हैं जिनके लिए अपने संस्कारों से ऊपर उठना बहुत कठिन होता है। हर युग परिवर्तन के साथ यह ट्रेजेडी घटती है कि नए युग की संस्थाओं का संचालन पुराने युग के मूल्यों को वहन करने वाले बुद्धिजीवियों के हाथ में रहता है। इंग्लैंड आदि देशों के आधुनिक लोकतंत्रों का संचालन भी अभी हाल तक सामंती मानसिकता वाली नौकरशाही और बुद्धिजीवी वर्ग के हाथों में रहा। इसका कारण होता है कि जिस रफ्तार से राजनैतिक सत्ता या धन की सत्ता विस्थापित और वितरित होती है, उसी रफ्तार से विद्या या ज्ञान की सत्ता विकेंद्रित नहीं होती।

सामाजिक न्याय अधिकारों का विकेंद्रीकरण कर कमजोर जातियों का शक्तिकरण तो करता है, किंतु यह कुछ जातियों के वर्चस्व के स्थान पर कुछ अन्य जातियों के वर्चस्व को स्थापित करने का रास्ता नहीं है। यह समाज में समरसता लाने के लिए और जाति व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिए समाज के सभी समूहों का शक्तिकरण करता है। यह लक्ष्य विभिन्न जातियों के बीच घृणा और द्वेष का वातावरण बना कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से आज यही हो रहा है और इसका कारण है कि हमने सामाजिक न्याय की कल्पना को ठीक से नहीं समझा है। बंधुता की हत्या कर समता स्थापित नहीं हो सकती, उसी तरह, जैसे समता की हत्या कर स्वतंत्रता स्थापित नहीं होती।

डॉ. आंबेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में कहा था - 'स्वतंत्रता, समता और बंधुता को एक-दूसरे से अलग कर दें तो लोकतंत्र निष्फल हो जाएगा। न स्वतंत्रता को समता से अलग किया जा सकता है और न समता को स्वतंत्रता से। इसी तरह स्वतंत्रता और समता को भी बंधुता से विलग नहीं किया जा सकता।'

नव-आंबेडकरवादी इस भावना के ठीक विपरीत काम कर रहे हैं। वे समाज के अपने से भिन्न तबकों को शत्रु के रूप में देख रहे हैं। यह मनुवाद का ही विपर्यय रूप है। इस रास्ते से न जाति व्यवस्था का उन्मूलन हो सकता है और न दलितों की स्थिति में कोई आमूल परिवर्तन हो सकता है। यह विनाश का ही रास्ता है।

डॉ. आंबेडकर और उनके समकालीन अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं में जिसे ब्राह्मणी, ब्राह्मणवादी या 'ब्राह्मनिकल' व्यवस्था कहा जाता था, उसे कुछ समय से मनुवादी व्यवस्था का नाम दिया गया है। वर्णाश्रम के सिद्धांत पर आधारित इस व्यवस्था का स्वरूप चूँकि मनुस्मृति में तय किया गया था, अत: इसे मनुवादी कहा गया। व्यवस्था से अधिक यह विशेषण अब मानसिकता के लिए इस्तेमाल किया जाता है, क्योंकि मनुस्मृति की व्यवस्था तो काफी हद तक बदल गई है, किंतु मानसिकता वही है। इसे जातिवादी मानसिकता भी कहा जाता है।

यह मानसिकता गुप्त और प्रकट, दो रूपों में दिखाई देती है। प्रकट रूप पर तो संविधान ने अंकुश लगाए हैं, किंतु गुप्त या छद्म रूप में यह निरंतर काम कर रही है। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता सवर्ण जातियों में ही हो, असवर्ण जातियाँ भी इन मानसिकता का शिकार हैं।

डॉ. आंबेडकर और डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता के छद्म रूपों की विस्तार से पड़ताल की थी।

बंबई एसेंबली में दलितों के प्रतिनिधित्व पर हुई बहस के दौरान एक बार डॉ. आंबेडकर ने टिप्पणी की कि ब्राह्मण जज जब ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के बीच वाद का फ़ैसला करने लगता है तो वह सिर्फ़ जज के रूप में फ़ैसला नहीं करता, उसकी जातिवादी मानसिकता भी काम करती है। इस पर एसेंबली में बहुत हंगामा हुआ। दूसरे दिन आंबेडकर ने स्पष्टीकरण दिया कि 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया था क्योंकि प्रश्न पूछने वाला ब्राह्मण था। प्रश्न पूछने वाला कोई और होता तो मैं उसी की जाति का उल्लेख करता। यह एक मानसिकता है जो सबमें काम करती है।

डॉ. लोहिया ने १० दिसंबर १९५७ को लखनऊ जेल से उत्तर प्रदेश के जेल मंत्री के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें जवाहरलाल नेहरू को 'वशिष्ठी परंपरा का कट्टर ब्राह्मण' कह कर संबोधित किया था। इस पत्र में डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता को वशिष्ठवाद कहा था और उसकी विशेषताएँ बताई थीं— अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए क्रोध से अभिभूत होकर किसी को देश-निकाला (जैसे सीता को) और किसी का सिर काटने (जैसे शम्बूक का) की प्रवृत्ति। उनका कहना था कि कट्टरता की परंपरा वशिष्ठ की परंपरा है और उदारता की परंपरा वाल्मीकि की परंपरा।

मनुवाद का आम अर्थ इस समय यह है कि सवर्ण जातियों का राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक वर्चस्व हर हालत में बना रहना चाहिए, चाहे इसके लिए जो भी छल-छद्म करना पड़े। यह काम स्त्री और शूद्र के बहुसंख्यक समाज में हीनता की भावना भर कर ही किया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि इस बंहुसंख्यक समाज के रहनसहन, शिक्षा, व्यवसाय, संस्कृति के स्तर को यथासंभव निम्न से निम्न रखा जाए। यदि यह बहुसंख्यक समाज अपने राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की मांग करता है, तो उस माँग को हर संभव प्रयास से दबाया जाए।

संविधान में इस बहुसंख्यक वर्ग को सामाजिक न्याय के प्रावधानों के अंतर्गत जो अधिकार दिए गए (जैसे विशेष अवसर, आरक्षण की व्यवस्था), उन्हें कुंठित करने के लिए जो भी प्रयास हुए या हो रहे हैं, वे मनुवादी सोच का परिणाम हैं। कभी इन प्रावधानों को यह कह कर चुनौती दी गई थी कि ये मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। न्यायपालिका के इस फ़ैसले को बेअसर करने के लिए संविधान में पहला संशोधन १९५१ में करना पड़ा। संविधान के निर्देश के अनुसार नियुक्त कालेलकर आयोग ने जब स्त्रियों सहित सभी पिछड़े वर्गों को ७० प्रति आरक्षण देने की सिफारिश की, तो जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने कालेलकर पर रिपोर्ट बदलने के लिए दबाव डाला। परिणामस्वरूप कालेलकर ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते समय अग्रेषण पत्र में लिखा कि रिपोर्ट तैयार होने के बाद मैंने महसूस किया कि यह रिपोर्ट बहुत खतरनाक है। नेहरू सरकार ने योग्यता और आर्थिक कसौटी का तर्क दे कर, जिसे आज तक दुहराया जा रहा है, रिपोर्ट को कूड़े के डिब्बे में डाल दिया। इंदिरा सरकार ने भी इसे दबाए रखा और जनता सरकार के समय बनाए गए मंडल आयोग की रिपोर्ट को भी इंदिरा-राजीव सरकारों ने दबा दिया। जब मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने की, तो सारे देश में बसों को जलाने और आत्मदाहों का सिलसिला चला। कुछ लोगों ने दलित पिछड़ों के अधिकारों की इस माँग को भक्ति काल के आजमाए हुए फार्मूले के अनुसार धर्म से कुंद करने की नीति अपनाई और राम जन्मभूमि का आंदोलन छेड़ दिया। उच्चतम न्यायालय का फ़ैसला आ जाने के बाद भी दलित-पिछड़ों के अधिकारों के इस आंदोलन को विफल करने के प्रयास जारी हैं। आरक्षण समर्थक भी मूर्खतावश ऐसे प्रयास कर रहे हैं। वे धर्म के आधार पर भी आरक्षण की वकालत कर रहे हैं, जबकि यह आर्थिक आधार आरक्षण की तरह ही इस आंदोलन की भावना और संविधान के विरुद्ध है।

जाति व्यवस्था की बुराई का तीव्र अहसास हमें डॉ० आंबेडकर ने कराया, इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। लेकिन उन्होंने इस बुराई से निजात पाने का रास्ता नहीं सुझाया। उन्होंने धर्म परिवर्तन का रास्ता आजमाया, किंतु वे जानते थे कि धर्म परिवर्तन के बाद भी इससे पीछा नहीं छूटेगा। उन्होंने गुस्से और युद्ध के तेवर अपनाए और उनके अनुयायियों ने उसे घृणा का रूप दे दिया। घृणा घृणा को उकसा रही है और युद्ध का कहीं अंत नहीं दिखता। दूसरा रास्ता गांधी ने सुझाया—संस्कारों को बदलने का और मन की शुद्धि करने का। यह बंधुता के साथ समता को लाने का रास्ता है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सामाजिक न्याय के नारे ने विभिन्न समाजों में विभिन्न तबकों को अपने लिए गरिमामय ज़िंदगी की माँग करने और उसके लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया है। सैद्धांतिक विमर्श में भी यूटोपियाई समाजवाद से लेकर वर्तमान समय तक सामाजिक न्याय में बहुत सारे आयाम जुड़ते गये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि विकसित समाजों की तुलना में विकासशील समाजों में सामाजिक न्याय का संघर्ष बहुत जटिलताओं से घिरा रहा है। अधिकांश मौकों पर इन समाजों में लोगों को सामाजिक न्याय के संघर्ष में बहुत ज़्यादा संरचात्मक हिंसा और कई मौकों पर राज्य की हिंसा का भी सामना करना पड़ा है। लेकिन सामाजिक न्याय के लिए चलने वाले संघर्षों के कारण इन समाजों में बुनियादी

बदलाव हुए हैं। कुल मिला कर समय के साथ सामाजिक न्याय के सिद्धांतीकरण में कई नये आयाम जुड़े हैं और एक संकल्पना या नारे के रूप में इसने लम्बे समय तक ख़ामोश या नेपथ्य में रहने वाले समूहों को भी अपने के लिए जागृत किया है।